क्रिकेट

मुश्ताक़ अहमद यूसुफ़ी

मिर्ज़ा अब्दुल वदूद बेग का यह दावा कुछ ऐसा ग़लत मालूम नहीं होता कि क्रिकेट बड़ी तेज़ी से हमारा राष्ट्रीय खेल बनता जा रहा है। राष्ट्रीय खेल से शायद उनका तात्पर्य ऐसा खेल है जो दूसरे राष्ट्र नहीं खेलते।

हम आज तक क्रिकेट नहीं खेले। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि हमें इसकी बुराई करने का हक़ नहीं। अब अगर किसी आदमी को कुत्ते ने नहीं काटा, तो क्या उस बदनसीब को कुत्तों की भर्त्सना करने का हक़ नहीं पहुँचता? ज़रा ग़ौर कीजिए। अफ़ीम की बुराई सिर्फ़ वही लोग कर सकते हैं, जो अफ़ीम नहीं खाते। अफ़ीम खाने के बाद हमने किसी को अफ़ीम की बुराई करते नहीं देखा------बुराई करना तो बड़ी बात है, हमने कुछ भी तो करते नहीं देखा।

अब भी बात साफ़ नहीं हुई तो हम एक और प्रामाणिक दृष्टांत पेश करते हैं। मौलाना अबुल कलाम आज़ाद को गुड़ से सख़्त चिढ़ थी। उनका कहना है कि जिसने एक बार गुड़ चख लिया उसको तमाम उम्र कोई दूसरी मिठास पसंद नहीं आ सकती। चूँकि वे ख़ुद चीनी की मुलायम मिठास के आदी प्रशंसक थे, इसलिए साबित हुआ कि वे भी सारी उम्र गुड़ खाए बिना गुड़ की बुराई करते रहे।

यूँ तो आजकल हर वह बात जिसमें हारने की संभावना ज़्यादा हो खेल समझी जाती है। फिर भी खेल और काम में जो स्पष्ट अंतर हमारी समझ में आया, वह यह है कि खेल का उद्देश्य शुद्ध रूप से मनोरंजन है। देखा जाए तो खेल काम का विलोम है। जहाँ इसमें गंभीरता आई और यह काम बना। यही वजह है कि पोलो इंसान के लिए खेल है और घोड़े के लिए काम! ज़िद की और बात है वर्ना ख़ुद मिर्ज़ा इस मौलिक अंतर से बेख़बर नहीं। हमें अच्छी तरह याद है कि एक दिन टंडो अल्लाह यार से मुआवज़े पर मुशायरा "पढ़के" लौटे तो हमसे कहने लगेः

"आजकल, हम तो शायरी को, जब तक वह किसी की रोज़ी-रोटी का साधन न हो, निरी अय्याशी बल्कि बदमाशी समझते हैं।"

शोध किया जा सकता है कि क्रिकेट खेल के इस प्रतिमान पर पूरा उतरता है या नहीं। फ़ैसला करने से पहले यह याद रखना चाहिए कि क्रिकेट दरअसल अंग्रेज़ों का खेल है। और कुछ उन्हीं के बलग़मी (सुस्त) स्वभाव से लग्गा खाता है। उनका राष्ट्रीय चरित्र है कि वे मनोरंजन के मामले में बेहद भावुक हो जाते हैं और मोहब्बत के मामलों में परले दर्जे के कारोबारी! इसी सुखद विरोधाभास का नतीजा है कि उनका दर्शनशास्त्र अत्यंत सतही है और हास्य बेहद गहरा!

क्रिकट से हमारा लगाव एक पुरानी घटना है जिस पर आज सौ साल बाद आश्चर्य या दुख व्यक्त करना अपने सामान्य ज्ञान की अज्ञानता का सबूत देना है। 1857 के हंगामों के बाद, बल्कि उससे कुछ पहले, हमारे पुरखों को अंग्रेज़ी कल्चर और क्रिकेट के आपसी सम्बन्ध का अहसास हो चला था। चुनांचे सर सैयद अहमद

ख़ाँ ने भी अंग्रेज़ी शिक्षा और संस्कृति के साथ-साथ क्रिकेट को अपनाने की कोशिश की। कहते हैं कि जब अलीगढ़ कॉलेज के लड़के मैच खेलते होते तो सर सैयद मैदान के किनारे जा-नमाज़ बिछाकर बैठ जाते। लड़कों का खेल देखते और रो-रोकर दुआ माँगते:

"अल्लाह! मेरे बच्चों की लाज तेरे हाथ है।"

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, क्रिकेट अंग्रेज़ों के लिए मनोरंजन नहीं मिशन है। लेकिन अगर आपने कभी क्रिकेट की टीमों को मई-जून की भरी दोपहर में अदूरदर्शी दुस्साहस के साथ मौसम को चैलेन्ज करते देखा है तो हमारी तरह आप भी इस निष्कर्ष पर पहुँचे बिना न रह सकेंगे कि हमारे यहाँ क्रिकेट मनोरंजन है न मिशन, अच्छी-ख़ासी दंडात्मक मशक़्क़त है जिसमें काम से ज़्यादा पसीना बहाना पड़ता है। अब अगर कोई सिरफिरा मुँहमाँगी मज़दूरी देकर भी अपने मज़दूरों से ऐसे मौसमी हालात में यूँ काम कराये तो पहले ही दिन उसका चालान हो जाए। मगर क्रिकेट में चूँकि आम तौर से मज़दूरी लेने का चलन नहीं, इसलिए चालान का सवाल पैदा नहीं होता। हमारे हाथों जिस तरह हल्का-फुल्का खेल तरक़्क़ी करके काम में बदल गया वह इसके आविष्कारकों के वहमो-गुमान में भी न होगा। 'ग़ालिब' ने शायद ऐसी ही किसी परिस्थिति से प्रभावित होकर कहा था कि 'कि हम मुग़ल बच्चे भी ग़ज़ब होते हैं, जिस पर मरते हैं उसको मार रखते हैं।'

और इसका सबब बज़ाहिर यह मालूम होता है कि इस खेल के मामले में हमारा रवैया बालिगों जैसा नहीं, बिल्कुल बच्चों जैसा है----- इस लिहाज़ से कि बच्चे ही खेल में इतनी गंभीरता बरतते हैं। फिर जैसे-जैसे बच्चा सयाना होता है खेल के मामले में उसका रवैया ग़ैर-संजीदा होता चला जाता है। और यही मानसिक परिपक्वता की निशानी है।

क्रिकेट के रसिया हम जैसे अरसिकों को लाजवाब करने के लिए अक्सर कहते हैं :

"मियाँ! तुम क्रिकेट की बारीकियों को क्या जानो? क्रिकेट अब खेल नहीं रहा, साइंस बन गया है साइंस!"

अजीब इत्तिफ़ाक़ है। ताश के धतिया भी रमी के बारे में बहुत फ़ख़्र से यही दावा करते हैं कि यह सोलह आने साइंटिफ़िक खेल है। बकने वाले बका करें, लेकिन हमें रमी के साइंटिफ़िक होने में बिल्कुल शुबहा नहीं। क्योंकि हमें यक़ीन है कि कम-से-कम वक़्त में ज़्यादा-से-ज़्यादा रूपया हारने का इससे ज़्यादा साइंटिफ़िक तरीक़ा अभी तक खोजा नहीं गया। अत: सिद्ध हुआ कि क्रिकेट और रमी पूर्णतया साइंटिफ़िक हैं------ और इसी आधार पर खेल नहीं कहलाये जा सकते। बात यह है कि जहाँ खेल में दिमाग़ पर ज़ोर पड़ा, खेल खेल नहीं रहता, काम बन जाता है। एक दफ़ा क्रिकेट पर नुक्ताचीनी करते हुए हमने मिर्ज़ा से कहा कि खेलों में वही खेल सर्वश्रेष्ट है जिसमें दिमाग़ पर कम-से-कम ज़ोर पड़े।

फ़रमाया "सही! आपके नाज़ुक मिज़ाज के लिए जुआ बहुत मुनासिब रहेगा। किस वास्ते कि जुए की क़ानूनी परिभाषा ही यही है कि इसे खेलने के लिए अक़्ल क़तई इस्तेमाल न करनी पड़े।"

यह क्रिकेट तक ही सीमित नहीं। विकसित देशों में यह रुझान आम है कि शिक्षा अत्यंत आसान और मनोरंजन रोज़-बरोज़ मुश्किल होता जाता है (मसलन बी.ए. करना बाएँ हाथ का खेल है, मगर ब्रिज खेलने के

लिए अक़्ल चाहिए) रेडियो, टेलिविज़न, सिनेमा और सचित्र पुस्तकों ने अब शिक्षा को बिल्कुल आसान और आम कर दिया है, लेकिन खेल दिन-बदिन भारी और पेचीदा होते जा रहे हैं। लिहाज़ा कुछ मंदबुद्धि लड़के खेल से जी चुराकर शिक्षा की ओर अधिक ध्यान देने लगे हैं। इससे जो सबक़ सिखाने वाले नतीजे प्रकट हुए वो सियासतदानों की सूरत में हम सबके सामने हैं।

किसी नरमपंथी विद्वान का कथन है कि "खेल के समय खेल और काम के समय काम अच्छा।" अगर हम यह कहें कि हम इस स्वर्ण-सिद्धांत से सरासर असहमत हैं तो इसका यह मतलब न निकाला जाए कि खुदा-न-ख़्वास्ता हम सुबह शाम, आठों पहर काम करने के पक्ष में हैं। सच पूछिए तो हम अपना शुमार उन नॉर्मल व्यक्तियों में करते हैं, जिनको खेल के समय खेल और काम के समय भी खेल ही अच्छा लगता है। और जब खुलके बातें हो रही हैं तो यह अर्ज़ करने की इजाज़त दीजिए कि वास्तव में काम के समय ही खेल का सही आनंद आता है। इसलिए क्रिकेट के विरोध से यह निष्कर्ष न निकालें कि हम मनोरंजन के ख़िलाफ़ बिफरे हुए बूढ़ों (ANGRY OLD MEN) का कोई संयुक्त मोर्चा बनाने चले हैं। हम खुद सौ फ़ीसद मनोरंजन के पक्ष में हैं, चाहे वह मनोरंजन शिक्षा के लिए हो, चाहे शिक्षा मनोरंजन के लिए! हम तो सिर्फ़ यह बात स्पस्ट करना चाहते हैं कि हालाँकि प्राचीन शिक्षा पद्धति से आधुनिक मनोरंजन पद्धति हज़ार गुना बेहतर है।

मगर इसमें पड़ती है मेहनत ज़्यादा

प्रस्तावना कुछ लम्बी और शायराना सही, लेकिन कुछ कारणों से अपरिहार्य थी। अब हम असल विषय की तरफ़ आते हैं और आँखों देखा हाल सुनाते हैं।

टेस्ट मैच के हंगामाखेज़ ज़माने का ज़िक्र है। शहर की आबादी दो हिस्सों में बँट गई थी। एक हिस्सा कि, *जिसमें काहिल भी हैं, ग़ाफ़िल भी हैं, हुशियार भी हैं*[1] अपने-अपने घरों में बैठा रेडियो कमेंट्री सुन रहा था। दूसरा हुजूम उन सफ़ेद-पोशों पर आधारित था, जो इज़्ज़त की ख़ातिर अपनी-अपनी छतों पर ख़ाली एरियल लगाकर खुद ईरानी होटलों और पान की दुकानों के सामने खड़े कमेंट्री सुन रहे थे। पाकिस्तान एक मैच जीत चुका था और क्रिकेट के ख़िलाफ़ एक शब्द भी मुँह से निकालना ग़द्दारी के बराबर था। मिर्ज़ा क्रिकेट को अपने पर तारी करके कहने लगे "यह खेलों का राजा है।"

हमारी जो शामत आई तो बोल उठे " मिर्ज़ा! क्रिकेट रईसों का खेल है। देखते नहीं यह मर रहा है। इसका कोई भविष्य नहीं। क्योंकि इसे न रूसी खेलते हैं न अमरीकी।"

"इसी से कुछ उम्मीद बँधती है कि शायद यह खेल ज़िन्दा रह जाए।" मिर्ज़ा ने छूटते ही दहला लगाया।

---

[1] अल्लामा इक़बाल की कविता 'शिकवा' की एक पंक्ति की पैरोडी है। इसमें इक़बाल ने दुनिया में मुसलमानों के ख़राब हालात पर खुदा से शिकवा किया है। इस कविता का एक बंद पेश है:

फिर भी हमसे यह गिला है कि वफ़ादार नहीं // हम वफ़ादार नहीं तू भी तो दिलदार नहीं//उम्मतें और भी हैं, उनमें गुनहगार भी हैं //इज्ज़ वाले भी हैं मस्त-ए-मय-ए-पिन्दार भी हैं //उनमें काहिल भी हैं, ग़ाफ़िल भी हैं, हुशियार भी हैं // सैंकड़ों हैं कि तेरे नाम से बेज़ार भी हैं// रहमतें हैं तेरी अग़यार के काशानों पर //बर्क़ गिरती है तो बेचारे मुसलमानों पर

"ऐसा महँगा और पेचीदा खेल जिसका मैच लगातार पाँच दिन तक घिसटता रहे और जिसे हमारे ग़रीब अवाम न खेल सकें और न देख पाएँ, हरगिज़ तवज्जो के लायक़ नहीं।" हमने दुखती हुई रग पकड़ी।"

"फिर कौन सा खेल तवज्जो के लायक़ है, हुज़ूर?" मिर्ज़ा ने चिढ़ावने अंदाज़ में पूछा।

"इससे बेहतर तो बेसबॉल रहेगी।" हमने कहा।

"बात एक ही है। आधा बैट टूट जाने के बाद भी क्रिकेट जारी रहे तो अमरीका में इसे बेसबॉल कहते हैं। किसी और खेल का नाम लो।" मिर्ज़ा ने कहा।

"टेनिस।" हमारे मुँह से बेसाख़्ता निकला।

"अगर तुमने टेनिस मैच में गेंद के साथ सैंकड़ों दर्शकों की गर्दनें एक साथ पेंडुलम की तरह दाएँ-बाएँ घूमती देखी हैं तो खुदा की क़सम तुम्हें इस खेल ही से नफ़रत हो जाएगी।" मिर्ज़ा ने कहा।

"इसका यह मतलब हुआ कि तुम्हें टेनिस देखने पर ऐतराज़ है। मत देखो। मगर खेलने में क्या हर्ज है?" हमने दबाया।

"जी नहीं! यूरोप में टेनिस बीमार मर्दों और तंदुरुस्त औरतों का खेल है। साहब! अच्छे खेल की खूबी यह है कि *कुछ हाथ हिलें,कुछ पाँव हिलें, उछलें बाज़ू, फड़के सब तन*"

मिर्ज़ा ने एकाएकी हमारे मुक़ाबले पर 'नज़ीर' अकबराबादी को ला खड़ा किया, जिनसे निपटना हमारे लिए थोड़ा मुश्किल था।

"चलो हॉकी सही।" हमने समझौते के अंदाज़ में कहा।

"छी! हमारी यह बड़ी कमज़ोरी है कि अपनी टीम किसी खेल में जीत जाए तो उसे राष्ट्रीय खेल समझने लगते हैं और उस वक़्त तक समझते रहते हैं जब तक कि टीम दूसरा मैच हार न जाए।" मिर्ज़ा ने फ़तवा दिया।

"तुम्हें पसंद न आये, यह और बात है। मगर कराची में हॉकी की लोकप्रियता का यह हाल है कि अगर कहीं दोस्ताना मैच भी हो रहा हो तो जनता इस बुरी तरह टूटती है कि फ़ील्ड तक में खेलने की जगह नहीं रहती।" हमने कहा।

"खुदा आबाद रखे, कराची का क्या कहना! बन्दर रोड पर कोई आदमी राह चलते यूँ ही पान की पीक थूक दे और फिर उसकी तरफ़ टकटकी बाँधकर देखने लगे तो दो मिनट में जमघट लग जाए और सारा ट्रैफ़िक रुक जाए। याद रखो! तमाशे में जान तमाशाई की ताली से पड़ती है, न कि मदारी की डुगडुगी से!" मिर्ज़ा ने बात को कहाँ से कहाँ पहुँचा दिया।

"फ़ुटबॉल कैसी रहेगी?" हमने आजिज़ आकर आख़िर उन ही से पूछा। मिर्ज़ा ने कहा "क्रिकेट अशराफ़ (कुलीन) खेलते हैं। फ़ुटबॉल देहातियों का खेल है। जट्ट गँवारों का! हड्डियाँ तुड़वाने के और भी सभ्य्य तरीक़े हो सकते हैं। लाहौल व-ला क़ूवत! इस बाजमात बदतमीज़ी को खेल किसने कह दिया? आपने शायद वह चुटकुला नहीं सुना कि एक पुराना खिलाड़ी चंद सिखों को फ़ुटबॉल खेलना सिखा रहा था। जब खेल के सब नियम एक-एक करके समझा चुका तो आख़िर में यह गुर की बात बताई कि 'हमेशा याद रखो, सारे खेल का दारोमदार सिर्फ़ ज़ोर से किक लगाने पर है। इससे कभी न चूको। अगर गेंद को किक न कर सको तो परवाह

नहीं। अपने विरोधी ही को किक करदो। अच्छा अब खेल शुरू करो। गेंद किधर है?' यह सुनकर एक सरदार जी अपना जाँघिया चढ़ाते हुए बेताबी से बोले 'गेंद दी ऐसी-तैसी! तुसी खेल शुरू करो, ख़ालसा!'"

"लेकिन गँवारों और देहातियों के साथ खेलने में कौन सी हेठी होती है?" हमने अपनी लोकतांत्रिक भावना से लगभग निढाल होकर पूछा।

"तफ़रीह में बुरी संगत से परहेज़ ज़रूरी है। याद रखिये, आप तिजारत और इबादत तो किसी के साथ भी कर सकते हैं। लेकिन ताश सिर्फ़ अशराफ़ों के साथ खेलने चाहिएँ। यहीं नहीं, यूरोप में भी इस फ़र्क़ का लिहाज़ रखा जाता है। वहाँ पर बड़े-से-बड़े स्टॉक-एक्सचेंज और गिरजा में हर ऐरे-ग़ैरे नत्थू ख़ैरे को बे रोक-टोक जाने की इजाज़त है। मगर क्लब और कैसीनो (जुआघर) में सिर्फ़ ख़ानदानी शोरफ़ा जा सकते हैं।"

क्या अर्ज़ करें, क्रिकेट के विरोधियों को क़ायल-माक़ूल करने के लिए मिर्ज़ा कैसी-कैसी धाँधली करते हैं। और एक पल में बात को दलील के पाले से निकालकर उस मुक़ाम पर पहुँचा देते हैं जहाँ बात करते दुश्मनों की ज़बान कटती है। बात उलझती जा रही है। इसलिए हम स्पष्ट करने के लिए उनकी अकाट्य दलील की एक मामूली मिसाल पेश करते हैं। एक दिन क्रिकेट के शारीरिक फ़ायदों (रूहानी फ़ायदों का बयान आगे आएगा) पर रौशनी डालते हुए फ़रमाने लगेः

"क्रिकेट से कलाई मज़बूत होती है।"

"कलाई मज़बूत होने से फ़ायदा?"

"क्रिकेट अच्छा खेला जाता है।"

एक और नाज़ुक मौक़े पर उन्होंने इसी तरह के तर्क से एक मूढ़ की बोलती बंद की। उन साहब की दलील थी कि क्रिकेट में हर वक़्त चोट-चपेट की आशंका लगी रहती है। मिर्ज़ा को क़ायल करने के मक़सद से उन्ही के सिर की क़सम खाके कहने लगे "मेरे सामने के दाँत क्रिकेट ही की भेंट चढ़े। (भीतरी चोटों की कोई गिनती नहीं) वह तो कहिए बड़ी ख़ैर हुई कि मेरे औसान ख़ता नहीं हुए। अगर मैं ठीक समय पर मुँह न फाड़ देता तो कहीं ज़्यादा नुक़सान होता।" बाद में उन्होंने क्रिकेट की राह में शरीर के अन्य अंगों के बारी-बारी घायल और बेकार होने की दर्द भरी दास्तान मैचवार सुनाई, और यह साबित कर दिया कि उनके अपने ऐतिहासिक घावों की कुल संख्या राणा सांगा के सत्तर घावों से किसी तरह कम नहीं।

मिर्ज़ा ने झुंझलाकर कर कहा "मगर दस्ताने, पैड और गार्ड आख़िर किस मर्ज़ की दवा हैं?"

वह साहब बोले "देखिये न! ज़िरह-बख्तर तो ख़ुद इस बात की दलील है कि खेल वाक़ई ख़तरनाक है। इन सुरक्षा प्रबंधों का नाम सुनकर मुझे इस वक़्त अपने गाँव का वह ज़मीनदार याद आ रहा है जिसने सत्तर साल की उम्र में एक सोलह साल की लड़की से शादी की थी। अभी सुहाग के जोड़े का कलफ़ भी ठीक से न टूटा होगा कि वो हालात पैदा हो गए जिनमें कुछ जल्दबाज़ सज्जन क़त्ल कर बैठते हैं। लेकिन आदमी था ग़ज़ब का दूरदर्शी। बहुत कुछ विचार-विमर्श और अपने स्वभाव के प्राकृतिक रुझान को देखते हुए इस नतीजे पर पहुँचा कि ख़ुदकुशी निस्बतन आसान रहेगी। क़त्ल में बड़ा खटराग है। याद रहे उस ज़माने में रेल और बंदूक़ के ग़लत इस्तेमाल का प्रचलन नहीं हुआ था। इसलिए ग़ैरतमंद हज़रात को कुएँ झाँकने पड़ते थे। लेकिन उन दिनों

कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी और कुएँ का पानी ऐसा ठंडा-बर्फ़ हो रहा था कि गुस्से में कोई आदमी कूद पड़े तो छुन्न से आवाज़ पैदा हो। इसलिए ज़मीनदार ने एक रूई का फ़र्गुल और दो मोटे-मोटे लिहाफ़ ओढ़कर कुएँ में छलाँग लगाई और आख़िर उन्ही लिहाफ़ों ने उसे न सिर्फ़ सर्दी बल्कि हराम मौत से भी बचा लिया।"

मिर्ज़ा चटख़ारा लेकर बोले "बहुत खूब! आइन्दा अब इस चटपटी कहानी को क्रिकेट के बजाय दूसरी शादी के ख़िलाफ़ दलील के तौर पर इस्तेमाल कीजिएगा।"

हमने बीच में पड़कर समझौता कराने की कोशिश की "ज़ाहिर है लिहाफ़ ओढ़कर क्रिकेट नहीं खेला जा सकता मगर एक बात आज तक मेरी समझ में नहीं आई। खिलाड़ी मोटे दस्ताने पहनते हैं। भारी-भरकम पैड चढ़ाते हैं। गार्ड बाँधते हैं और ख़ुदा जाने क्या अला-बला अपने ऊपर मढ़ लेते है, जब कहीं अपने को गेंद से सुरक्षित समझते हैं। लेकिन आख़िर इसके बजाय नर्म गेंद क्यों नहीं इस्तेमाल करते? सीधी सी बात है।"

मिर्ज़ा साफ़-साफ़ कन्नी काटकर फ़लसफ़ा बघारने लगे। "हज़रत! मुझे सज़ा के तौर पर भी वह खेल मंज़ूर नहीं जिसमें चोट की प्रबल आशंका न हो। मर्दों को चोट खाकर मुस्कुराने की आदत होनी चाहिए।"

"चोट खाने से फ़ायदा?"

"आदमी मज़बूत होता है।"

"उससे क्या होता है?"

"आइन्दा चोट लगे तो चीख़ नहीं निकलती।"

मिर्ज़ा को क्रिकेट से कितनी दिलचस्पी और उसकी बारीकियों की किस हद तक जानकारी है, हमें इसका थोड़ा बहुत अंदाज़ा पाँच साल पहले हुआ। टेस्ट का चौथा दिन था। और एक स्लो बॉलर बोलिंग कर रहा था। उसकी कलाई के एक मामूली इशारे, उँगलियों की एक हल्की सी हरकत पर गेंद नाच-नाच उठती। और दर्शक हर गेंद पर कुर्सियों से उठ-उठकर दाद देते और दाद देकर बारी-बारी एक दूसरे की गोद में बैठ-बैठ जाते। हमारे पास ही, एक मेम के पीछे, कुर्सी पर आलती-पालती मारे बैठा बूढ़ा पारसी तक, अपने पोपले मुँह से सीटी बजा-बजाकर बॉलर का दिल बढ़ा रहा था। उधर स्टेडियम के बाहर पेड़ों की फुनगियों से लटके हुए शौक़ीन हाथ छोड़-छोड़कर तालियाँ बजाते और कपड़े झाड़कर फिर पेड़ों पर चढ़ जाते। हर आदमी की नज़रें गेंद पर गड़ी हुई थीं। एकाएक बड़े ज़ोर से तालियाँ बजने लगीं।

"हाय! बड़े ग़ज़ब की गुगली है!" हमने जोश से मिर्ज़ा का हाथ दबाकर कहा।

"नहीं यार! मद्रासिन है!" मिर्ज़ा ने दाँत भींचकर जवाब दिया।

हमने पलटकर देखा तो मिर्ज़ा ही की राय सही निकली। बल्कि बहुत खूब निकली।

उनकी दिलचस्पी का अंदाज़ा उस तैयारी से भी होता है जो पिछले तीन बरस से उनकी आदतों में शामिल हो चुकी है। अब वे बड़े चाव से लदे-फंदे टेस्ट मैच देखने जाते हैं। डेढ़-दो सेर भूभल की भुनी मूँगफली, बैटरी का रेडियो[1] और थर्मस! यहाँ हमने नाश्तेदान, सिगरेट, धूप की ऐनक, स्प्रू की टिकियों का ज़िक्र इसलिए नहीं किया कि ये तो उन आवश्यक सामग्रियों में से हैं जिनके बिना कोई दूरदर्शी आदमी यह खेल देखने का

[1] उस ज़माने में ट्रांज़िस्टर आम नहीं हुए थे। (ले.)

इरादा नहीं करता। यूँ तो ताज़ा अख़बार भी साथ होता है मगर वे उससे छतरी का काम लेते हैं। ख़ुद नहीं पढ़ते, अलबत्ता पीछे बैठने वाले बार-बार पन्ना पलटने की दरख़ास्त करते रहते हैं। दिन भर रेडियो से चिमटे कमेंट्री सुनते रहते हैं, बल्कि हमारा ख़याल है कि उन्हें कमेंट्री सुनने से ज़्यादा सुनाने में मज़ा आता है। अलबत्ता कमेंट्री आना बंद हो जाए तो खेल भी देख लेते हैं। या फिर उस वक़्त सिर उठाकर फ़ील्ड की तरफ़ देखते हैं जब रेडयो पर तालियों की आवाज़ से कानों के परदे फटने लगें। मैच किसी और शहर में हो रहा हो तो घर बैठे कमेंट्री के जोशीले हिस्सों को टेप पर रिकॉर्ड कर लेते हैं और आइन्दा टेस्ट तक उसे सुना-सुनाकर अपना और दूसरे मुसलमान भाइयों का ख़ून खौलाते रहते हैं।

जाहिलों की बात नहीं, बड़े-बड़ों को हमने इस ख़ुशफ़हमी में गिरफ़्तार देखा कि ज़्यादा न कम पूरे बाईस खिलाड़ी क्रिकेट खेलते हैं। हम नियम-क़ानून से वाक़िफ़ नहीं लेकिन जो कुछ अपनी आँखों से देखा, उसी की क़सम खा के अर्ज़ करते हैं कि वास्तव में क्रिकेट एक ही आदमी खेलता है। मगर इस खेल की यह विशेषता है कि बाक़ी इक्कीस सज्जन सारे-सारे दिन इस मुग़ालते में मग्न रहते हैं कि वे भी खेल रहे हैं। हालाँकि होता यह है कि ये सज्जन शाम तक सारस की तरह खड़े-खड़े थक जाते हैं और घर पहुँचकर इस थकान को तंदुरुस्ती समझकर पड़ रहते हैं।

मिर्ज़ा कहते हैं (असंभव है क्रिकेट की चर्चा हो और बार-बार मिर्ज़ा की दुहाई न देनी पड़े) कि खेल, ख़ास तौर पर क्रिकेट से, हार-जीत से विरक्ति की भावना पैदा होती है। अब उन्हें कौन समझाए कि जीतने के लिए वाक़ई मेहनत और अभ्यास दरकार है। लेकिन हारने के लिए अभ्यास और महारत की बिल्कुल ज़रुरत नहीं कि यह मुश्किल विरोधी टीम आम तौर पर ख़ुद आसान कर देती है।

अच्छे स्कूलों में शुरू ही से ट्रेनिंग दी जाती है कि जिस तरह मुर्ग़ाबी पर पानी की बूँद नहीं ठहरती, उसी तरह अच्छे खिलाड़ी पर नाकामी का कोई प्रभाव नहीं होना चाहिए। हमने देखा है कि कुछ कमज़ोर तबीयत वाले इस नसीहत का इस क़दर असर लेते हैं कि हर क़िस्म के नतीजों से बेपरवाह हो जाते हैं।

लेकिन अगर हम खुले-खज़ाने यह स्वीकार करलें कि हमें जीत से दुख और हार से ख़ुशी नहीं होती तो कौन सी बुरी बात है? इंगलिस्तान का राजा विलियम विजेता इस मामले में सहजता और साफ़ दिली की एक मुर्दा मिसाल क़ायम कर गया है जो आज भी कुछ लोगों के नज़दीक तवज्जो के लायक़ और अनुकरणीय है। हुआ यह कि एक दफ़ा जब वह शतरंज की बाज़ी हार गया तो आव देखा न ताव लकड़ी की बिसात जीतने वाले के सिर पर दे मारी, जिससे उस गुस्ताख़ की मौत हो गई। इतिहासकार इस मामले में ख़ामोश हैं, मगर अनुमान यही है कि दरबारियों ने यूँ बात बनाई होगीः

"सरकार! यह तो बहुत ही कमज़र्फ़ निकला। जीत की तनिक भी ताब न ला सका। ख़ुशी के मारे मर गया।"

यही क़िस्सा एक दिन नमक मिर्च लगाकर हमने मिर्ज़ा को सुनाया। बिगड़ गए। कहने लगेः

"आप बड़ा फ़लसफ़ा छाँटते हैं। मगर यह एक फ़लसफ़ी का ही क़ौल है कि किसी देश के पास राजनीतिक प्रतिष्ठा हो ही नहीं सकती जब तक कि उसने किसी न किसी युग में अपने खेल का लोहा न मनवाया हो।"

हमने छेड़ा "मगर देश पिट-पिटकर ही हैकड़ होते हैं।"

देशों को जहाँ का तहाँ छोड़कर व्यक्तिगत हमले पर उतर आये। "जिस आदमी ने उम्र भर अपनी सेहत के दामन को हर तरह की कसरत और खेल से बचाए रखा, वह बेचारा खेल की स्प्रिट को क्या जानेः *'बचपन में भी तुम खेल जो खेले तो सनम का।'* मैं जानता हूँ तुम जैसे थुड़दिले (बुज़दिल) सिर्फ़ हार के डर से नहीं खेलते। ऐसा ही है तो परसों सुबह बग़दादी जिमख़ाने आ जाओ। फिर तुम्हें दिखाएँ कि क्रिकेट क्या होता है।"

इसके बाद उन्होंने बताया कि उपर्युक्त स्थान पर हर हफ़्ते दोस्ताना मैच होते रहते हैं। (दोस्ताना मैच से तात्पर्य ऐसा मैच है जिसमें लोग हारकर भी क़ायल नहीं होते) अभी पिछले शनिवार को ऐनक लगाने वालों की टीम ने सिगार पीने वालों को पूरे नौ विकटों से शिकस्त दी थी और परसों उनकी कम्पनी के कुँआरे कर्मचारी अपने अधिकारियों और उनकी पत्नियों से शौक़िया मैच खेल रहे हैं। हमने कुछ हिचिर-मिचिर की तो आँख मारकर कहने लगेः

"बेपरदगी का ख़ास इंतज़ाम होगा। ज़रूर आना।"

हम नाश्ता करते ही बग़दादी जिमख़ाना पहुँच गए। प्रोग्राम के मुताबिक़ खेल ठीक दस बजे शुरू होना चाहिए था। मगर अम्पायर का सफ़ेद कोट इस्त्री होकर देर से आया। इसलिए छपे हुए प्रोग्राम के बजाय 11 ½ बजे तक खिलाड़ी मूँगफली खाते रहे।

पंद्रह मिनट की किचकिच के बाद यह तय पाया कि जो टीम "टॉस" हारे वही बैटिंग करे। फिर कलदार रूपया खनका। तालियाँ बजीं। महकते हुए रूमाल हवा में लहराए और मिर्ज़ा कसे-बंधे बैटिंग करने निकले।

हमने दुआ दी "ख़ुदा करे तुम वापस न आओ।"

मिर्ज़ा ने हमारा शुक्रिया अदा किया और चलते-चलते फिर ताकीद की "क्रिकेट मत देखो। क्रिकेट की स्प्रिट देखो।"

हम यह बताना भूल ही गए कि रवाना होने से पहले मिर्ज़ा ने अपने बैट पर सब दर्शकों के दस्तख़त लिए। एक महिला ने (जो किसी तरफ़ से अनपढ़ मालूम नहीं होती थीं) दस्तख़त की जगह बैट पर अपने रसीले लाल-लाल होंठ जड़ दिए और मिर्ज़ा पीछे मुड़-मुड़कर देखते हुए विकेट तक पहुँचे। बल्कि यूँ कहना चाहिए कि सारा रास्ता उल्टे क़दमों तय किया और अगर बीच में विकेट से टक्कर न होती तो शायद सारी फ़ील्ड इसी तरह पार कर जाते।

मिर्ज़ा ने क्रिकेट में भी वही तेज़ी और तेवर दिखाए जो हम उनके मुचैटों और मुहब्बतों में देखते चले आए थे------ यानी तकनीक कम और जोश ज़्यादा! रवानगी से चंद मिनट पहले पैड के तस्मे बाँधते हुए उन्होंने एक मरखने से क्लर्क को हथकंडा बताया कि छक्का लगाने का आसान तरीक़ा यह है कि ख़ूब कसके हिट लगाओ।

क्लर्क ने फटी-फटी आँखों से घूरते हुए कहा "यह तो सभी जानते हैं। सवाल यह है कि ज़ोर का हिट किस तरह लगाया जाए?"

मिर्ज़ा अपनी बड़ी-बड़ी आँखें लाल करके बोले "मैं तो यह करता हूँ कि हिट लगाते वक़्त आँख मैचकर अपने अफ़सर का ख़याल करता हूँ। खुदा की क़सम ऐसा ज़ोर का हिट लगता है कि गेंद तारा हो जाती है।"

मिर्ज़ा के खेलने बल्कि न खेलने का अंदाज़ देखकर हमें यक़ीन हो गया कि अफ़सर का एक फ़ोटो नहीं, बल्कि पूरा का पूरा एल्बम उनकी आँखों में फिर रहा है। इसलिए कि वे बैट को पूरी ताक़त के साथ गोफन की तरह घुमाए जा रहे थे। तीन ओवर इसी तरह ख़ाली गए और गेंद को एक दफ़ा भी बैट से मिलन का मौक़ा नहीं मिला। मिर्ज़ा के मुस्कुराने का अंदाज़ साफ़ बता रहा था कि वे इस स्थिति को बॉलर की नालायक़ी से ज़्यादा अपनी उस्तादी के हथकंडे समझ रहे हैं। मगर इत्तिफ़ाक़ से चौथे ओवर में एक गेंद सीधों-सीध बैट पर जा लगी। मिर्ज़ा पूरी ताक़त से बैट फेंकर चीख़ेः

"हाउज़ दैट?"

अम्पायर दौड़ा-दौड़ा आया। बैट उठाकर उन्हें पकड़ाया और बड़ी मुश्किल से समझा-बुझाकर दोबारा खेलने पर राज़ी किया।

मुसीबत असल में यह थी कि विरोधी टीम का लम्बा तगड़ा बॉलर, खुदा झूठ न बुलवाए, पूरे एक फ़र्लांग से टहलता हुआ आता। अचानक झटके के साथ रूककर खंखारता। फिर उम्मीद के ख़िलाफ़ निहायत तेज़ी से गेंद फेंकता। इसके अलावा, हालाँकि सिर्फ़ दाईं आँख से देख सकता था मगर गेंद बाएँ हाथ से फेंकता था। मिर्ज़ा का विचार था कि उस बेईमान ने यह चकरा देने वाली स्थिति जानबूझकर पैदा कर रखी थी। एक मिर्ज़ा ही नहीं, कोई भी यह अंदाज़ा नहीं कर सकता था कि वह गेंद कैसे और कहाँ फेंकेगा। बल्कि उसकी सूरत देखकर कभी-कभी तो यह शक होता था कि अल्लाह जाने फेंकेगा भी या नहीं।

सच तो यह है कि उसने गेंद से उतने विकेट नहीं लिए जितने गेंद फेंकने के अंदाज़ से। मिर्ज़ा के शब्दों में "मंझे हुए बॉलर से कोई नहीं डरता। वह ज़्यादा से ज़्यादा विकेट ही तो ले सकता है। जान तो अनाड़ी से निकलती है।" सभी के छक्के छूट गए। गेंद फेंकने से पहले जब वह अपनी ढाई घर की चाल से लहरिया बनाता हुआ आता तो अच्छे-अच्छों के बैट हाथ के हाथ में रह जाते।

आगे बढ़ा कोई तो कोई डर के रह गया
सकते में कोई मुँह पे नज़र करके रह गया

हर मर्तबा ज़ालिम कुछ ऐसी अव्यवसायिक भावना और जोश के साथ किचकिचाकर गेंद फेंकता मानो यह वह पहला पत्थर है जिससे एक गुनहगार दूसरे गुनहगार को संगसार करने जा रहा है। इसके बावजूद मिर्ज़ा बेहद मुँहतोड़ हालात में डंडे गाड़े खड़े थे।

लेकिन यह सही है कि रन न बनने की बड़ी वजह मिर्ज़ा के अपने पैंतरे थे। वे अपना विकेट हथेली पर लिए फिर रहे थे। वे करते यह थे कि अगर गेंद अपनी तरफ़ आती होती तो साफ़ टल जाते। लेकिन अगर टेढ़ी

आती दिखाई देती तो उसके पीछे बैट लेकर बड़े जोशो-ख़रोश से दौड़ते (कप्तान ने बहुतेरा इशारों से मना किया मगर वे दो दफ़ा गेंद को बाउंड्री लाइन तक छोड़ने गए) अलबत्ता एक बार जब वे अपने बैट पर लिपस्टिक से बने हुए होंठों को ध्यानमग्न होकर देख रहे थे तो गेंद अचानक बैट से आ लगी और वे चमककर हवा में गेंद से ज़्यादा उछले। विकेट कीपर अगर बढ़के बीच में न पकड़ लेता तो ऐसे औंधे मुँह गिरते कि हफ़्तों अपनी शकल खुद न पहचान पाते।

यूँ भी कुछ खिलाड़ी गेंद को देखते नहीं, सुनते हैं------यानी उनको अपने आस-पास के क्षेत्र में गेंद की मौजूदगी का अहसास पहले-पहल उस आवाज़ से होता है जो गेंद और विकेट के टकराने से पैदा होती है।

कुछ ओवर के बाद खेल का रंग बदलता नज़र आया और यूँ महसूस होने लगा मानो विकेट गेंद को अपनी तरफ़ इस तरह खींच रहा है जैसे चुम्बक लोहे को। हमने देखा कि सातवें ओअर की तीसरी गेंद पर मिर्ज़ा ने अपनी सशस्त्र व समूची रान बीच में अड़ा दी। सब एकसाथ चीख़ पड़ेः

"हाउज़ दैट?"

"मिर्ज़ा ने जानबूझकर अपनी टाँग उस जगह रखी जहाँ मैं हमेशा गेंद फेंकता हूँ।" बॉलर ने इल्ज़ाम लगाया।

बकवास है। बात यूँ है कि उसने जानबूझकर उस जगह गेंद फेंकी जहाँ मैं हमेशा अपनी टाँग रखता हूँ।" मिर्ज़ा ने जवाब दिया।

"अगर मेरा निशाना ऐसा ही होता मिर्ज़ा जी कभी के पवेलियन में विराजमान होते।" बॉलर बोला।

"तो यूँ कहो कि तुम्हारी गेंद विकेट से एलर्जिक है।" मिर्ज़ा ने कहा।

"मैंने अपनी आँखों से देखा कि मिर्ज़ा ने जानबूझकर टाँग आगे की।"एकचश्म (एकनेत्रीय) बॉलर ने क़सम खाकर कहा।

अम्पायर ने दोनों को समझाया कि बहसाबहसी क्रिकेट की स्प्रिट के ख़िलाफ़ है। फिर यह फ़ैसला सुनाया कि बैट्समैन के खेल के सावधानीपूर्ण स्टाइल से साफ़ ज़ाहिर होता है कि अगर उसे तनिक भी आशंका होती कि गेंद उसकी टाँग की ओर आ रही है तो वह खटाक से विकेट को अपनी टाँग के आगे कर देता।

इस फ़ैसले पर मिर्ज़ा ने अपनी टोपी उछाली और जब वह अपने केंद्र की तरफ़ वापस आ गई तो फिर खेल शुरू हुआ। लेकिन दूसरे ही ओवर में बॉलर ने गेंद ऐसी खींचके मारी कि मिर्ज़ा के सिर से एक आवाज़ (और मुँह से कई!) निकली और टोपी उड़कर विकेट कीपर के क़दमों पर जा पड़ी।

जब अम्पायर ने मिर्ज़ा को टोपी पहनाने की कोशिश की तो वह एक इंच तंग हो चुकी थी!

इसके बावजूद मिर्ज़ा खूब जमकर खेले। और ऐसा जमकर खेले की उनकी अपनी टीम के पाँव उखड़ गए। इस दुखद रूदाद की तफ़सील यह है कि जैसे ही उनका साथी गेंद पर हिट लगाता वैसे ही मिर्ज़ा उसे रन बनाने की पुरज़ोर दावत देते और जब वह घिसटते हुए ¾ पिच तय कर लेता तो उसे डाँट-डपटकर, बल्कि धकेलकर, अपने विकेट की तरफ़ वापस भेज देते। मगर अक्सर यही हुआ कि गेंद उस बेचारे से पहले वहाँ पहुँच गई। और वह मुफ़्त में रन-आउट हो गया। जब मिर्ज़ा ने एक के बाद दूसरे अपनी टीम के पाँच खिलाड़ियों का,

कप्तान बहादुर समेत, इस तरह जुलूस निकाल दिया तो कप्तान ने उत्तरजीवियों को सख़्ती से चेतावनी दी कि ख़बरदार! अब मिर्ज़ा के अलावा कोई रन न बनाए।

लेकिन मिर्ज़ा आख़िरी विकेट तक अपनी सतर्क शैली पर अडिग रहे और एक रन बनाके नहीं दिया। इसके बावजूद उनका स्कोर अपनी टीम में सबसे अच्छा रहा इसलिए कि रन तो किसी और ने भी नहीं बनाए, मगर वे सब आउट हो गए। इसके बरअक्स मिर्ज़ा खुद को बड़े गर्व के साथ "ज़ीरो नॉट आउट" बताते थे। नॉट आउट! और यह बड़ी बात है।

खेल के संक्षिप्त अंतराल के बाद लंबा लंच शुरू हुआ, जिसमें कुछ शादी-शुदा अफ़सरों ने छक के बियर पी और ऊँघने लगे। जिन्होंने नहीं पी वे उनकी पत्नियों से बदतमीज़ियाँ करने लगे। जब चाय के समय में कुल दस मिनट बाक़ी रह गए और बैरे झपाक-झपाक प्यालियाँ लगाने लगे तो मजबूरन खेल शुरू करना पड़ा। दो खिलाड़ी अम्पायर को सहारा देकर पिच तक ले गए और मिर्ज़ा ने बोलिंग सँभाली। पता चला कि वे बोलिंग की उस अनुपम विधा में सिद्धहस्त हैं जिसे उनके अशुभचिन्तक "वाइड बॉल" कहने पर अड़े थे। नतीजा यह हुआ कि हिट लगे बिना भी धड़ाधड़ रन बनने लगे। तीन ओवर के बाद यह हाल हो गया कि मिर्ज़ा हर गेंद पर गाली देने लगे (शिकार में भी उनका सदा यही दस्तूर रहा कि फ़ायर करने से पहले दाँत पीसकर तीतर को कोसते हैं और फ़ायर करने के बाद बंदूक़ बनाने वाले कारख़ाने को गालियाँ देते हैं)।

हम बोलिंग की अलग-अलग क़िस्मों और बारीकियों से वाक़िफ नहीं। फिर भी इतना ज़रूर देखा कि जिस रफ़्तार से मिर्ज़ा विकेट की तरफ़ गेंद फेंकते, उससे चौगुनी रफ़्तार से वापस कर दी जाती। वे थोड़ी देर वक्र-गति गेंद को हैरत और हसरत से देखते। बार-बार उसपर अपना दायाँ हाथ अफ़सोस से मलते। फिर भदर-भदर दौड़ते और जब और जहाँ साँस भर जाती वहीं और उसी लम्हे लुंज हाथ से गेंद फेंक देते--- *मुँह फेर के इधर को, उधर को बढ़ा के हाथ*। शुरू में तो विरोधी टीम उनकी बोलिंग के स्तर से बहुत संतुष्ट और आनंदित हुई। लेकिन जब उसके पहले ही खिलाड़ी ने पंद्रह मिनट में तीस रन बना डाले तो बैट्समैन ने आग्रह किया कि हमारे दूसरे बैट्समैन रहे जाते हैं, उनको भी मौक़ा मिलना चाहिए। इसलिए आप अपना बॉलर बदलिए।

मिर्ज़ा बोलिंग छोड़कर पवेलियन में आ गए। मारे खुशी के कानों तक बाछें खिली पड़ रही थीं। जब वे अपनी जगह पर वापस आ गईं तो मुँह हमारे कान से भिड़ाकर बोले:

"कहो, पसंद आई?"

"कौन? किधर?" हमने पूछा।

हमारा हाथ झटककर बोले "निरे गावदी हो तुम भी! मैं क्रिकेट की स्प्रिट की बात कर रहा हूँ।"

(चिराग़ तले)

अनुवादक : डॉ। आफ़ताब अहमद
व्याख्याता, हिंदी-उर्दू, कोलंबिया विश्वविद्यालय, न्यूयॉर्क